

नन्दकिशोर आचार्य
संस्कृति का व्याकरण २, "मनुष्य और जीवन"

मनुष्य से श्रेष्ठ कुछ भी नहीं है, मनुष्य सब चीजों का मापदण्ड है, मनुष्य ही एक मात्र सत्य है – इस तरह की बातें हर विचारधारा माननेवाले लोगों से अक्सर सुनने को मिल जाती हैं। वैज्ञानिक मनुष्य को जीवों में सर्वश्रेष्ठ मानते हैं। दार्शनिक उस में चेतना की अभिव्यक्ति खोजते हैं और सृष्टि का केन्द्रीय स्थान उसी को देते हैं – यहां तक कि मनुष्य की चेतना को एक यान्त्रिक प्रक्रिया के रूप में देखने और मनुष्य की नियति को यान्त्रिक स्तर पर नियन्त्रित कर सकने की आशा करने वाले लोग भी अपने प्रयत्नों का प्रयोजन मनुष्य का कल्याण ही मानते हैं।

इस में कोई सन्देह नहीं कि किसी भी सामाजिक व्यवस्था की कसौटी यही है कि उस के अन्तर्गत मनुष्य के बहुआयामी विकास को किस सीमा तक एक उचित वातावरण और सुविधाएँ मिलती हैं। जो व्यवस्था मनुष्य के विकास की सम्भावनाओं को मानसिक-आध्यात्मिक अथवा सामाजिक-आर्थिक किसी भी स्तर पर रोकती है, उसे हम उचित व्यवस्था नहीं कह सकते। इसी प्रकार यह स्वीकार करने में भी कोई आपत्ति नहीं हो सकती कि मनुष्य जैविक विकास का सर्वश्रेष्ठ स्तर है, कि उसमें जीवन और चेतना की अद्यतन सर्वश्रेष्ठ अभिव्यक्ति हुई है और भविष्य में इसके और गुणात्मक विकास की अपेक्षा भी उसी से की जा सकती है। इसलिए यह मान लेने में कोई एतिराज नहीं हो सकता कि वह अन्य जीवों से श्रेष्ठ है।

तब फिर समस्या क्या है? इस सवाल पर यहाँ पर विचार की आवश्यकता ही क्या है – बल्कि फिर सवाल ही कहाँ बच रहता है? लेकिन सवाल उठता है और बड़ा महत्वपूर्ण सवाल उठता है। सवाल यह उठता है कि जब हम मनुष्य को सब जीवों से श्रेष्ठ मान लेते हैं या उसे ही किसी व्यवस्था की कसौटी मान लेते हैं, तब हमारे इस कथन या मान्यता का ध्वान्यार्थ क्या होता है। क्या हमारा तात्पर्य यह होता है कि मनुष्य अन्य जीवों से अधिक समर्थ, सचेत और श्रेष्ठ है, अतः शेष जीवन और जगत् के संरक्षण का दायित्व उसका है अथवा यह कि वही सब से श्रेष्ठ है इसलिए अन्य सब कुछ उसके अबाध उपयोग के लिए है जिसे वह स्वैच्छाचारी तरीके से इस्तेमाल कर सकता है? वह श्रेष्ठ है इसलिए प्रकृति और जीव जगत् का शोषण, दोहन और दमन करने का उसे अधिकार है, कि अधिक से अधिक उसका दायित्व अपनी ही जाति के अन्य सदस्यों – बल्कि अपने वर्ग या राष्ट्र के सदस्यों तक के प्रति है? और प्रकृति या मनुष्येतर जीवों के प्रति दायित्व का अर्थ ही क्या है? उनका तो प्रयोजन ही नहीं है कि मनुष्य उनका इस्तेमाल करे – बल्कि यह इस्तेमाल मनुष्य के अस्तित्व की आवश्यकता है क्योंकि उसके बिना जीवित नहीं रह सकता! क्या ऐसा नहीं है?

क्या आप भी ऐसा ही मानते हैं? लेकिन अक्सर लोग ऐसा ही मानते हैं और ऐसा मानते हुए अपने ही तर्क के निहितार्थ की अनदेखी कर जाते हैं। मनुष्य केवल जैविक अस्तित्व नहीं है। वह एक मूल्यसृष्टा, स्वतन्त्रचेता और इसलिए उत्तरदायी प्राणी है जिस के आचरण को सिर्फ जैविक स्तर पर नहीं परखा जाता। उस का उत्तरदायित्व किसी अन्य के प्रति नहीं है – इस अर्थ में वह सर्वश्रेष्ठ है – लेकिन अपनी ही स्वतन्त्र चेतना से उद्भूत और विकसित मूल्यों के अनुसार आचरण में ही उसका मानवत्व निहित है, इस अर्थ में उसका उत्तरदायित्व अपनी स्वतन्त्र चेतना और अपने मानवत्व के प्रति है। अपने जैविक व्यवहार में इस मूल्यगत औचित्य से उसे परे नहीं रखा जा सकता। यह ठीक है कि मूल्यों के उद्भव, विकास और पहचान की परख वैज्ञानिक चिन्तन-दृष्टि से की जानी चाहिए लेकिन तब भी यह स्मरण रखना होगा कि विज्ञान अपनी प्रक्रिया में मूल्य-निरपेक्ष है, उस के उपयोग को भी मूल्यवत्ता देने का काम मानव चेतना ही करती है।

इसलिए यदि हम इस तर्क को मान लेते हैं कि मनुष्य में जीवन और चेतना का सर्वाधिक विकास हुआ है, अतः वह सब से श्रेष्ठ है और इसलिए उसे अपने से हीनतर का अपनी इच्छानुसार उपयोग करने का अधिकार है तो हमें यह भी देखना चाहिए कि इस मान्यता की चरम तार्किक परिणति क्या होगी! क्या हम यह स्वीकार नहीं कर रहे होंगे कि श्रेष्ठतर को यह अधिकार है कि वह अपने से हीनतर का अपने लिए उपयोग कर सके? प्रकृति और पशुजगत् जीवन और चेतना के विकास में मनुष्य से नीचे के स्तरों पर हैं – यही बात तो मनुष्य को उन से श्रेष्ठतर बनाती और उनके इस्तेमाल के बारे में इकतरफ़ा निर्णय लेने का अधिकार मनुष्य को देती है। यदि हम यही तर्क मानव-समाज पर भी

लागू कर दें तो क्या हम यह मानने को राजी हैं कि इसी तर्क के आधार पर मानव-आचरण को जाँचा जाना चाहिए, मनुष्यों में भी चेतना के विकास के भिन्न स्तर और आयाम मिलते हैं – यदि मानवीय आचरण की कसौटी उपर्युक्त मान्यता है तब तो अधिक विकसित चेतना और जीवन-शक्ति वाले मनुष्यों, समाजों या राष्ट्रों को यह सर्वमान्य अधिकार होना चाहिए कि वे अपने से कमजोर और हीनतर मनुष्यों, समाजों या राष्ट्रों का उपयोग अपने लिए कर सकें ! क्या हम ऐसा मानने के लिए सहमत हैं ?

कुछ लोग हैं जो इसे तर्क की टाँग खींचना कह सकते हैं। उन की आपत्ति यही होती है कि मनुष्य का मनुष्य के प्रति व्यवहार और मनुष्य का मनुष्येतर जीवन के प्रति व्यवहार दो अलग बातें हैं और उनके लिए एक ही कसौटी नहीं बनायी जा सकती। मनुष्य और पशु में फ़र्क है, अतः मनुष्य और पशु के प्रति किये जा रहे आचरण में फ़र्क होना स्वाभाविक और संगत है। यदि हम इस तर्क को मान लेते हैं तो उससे भी क्या यही ध्वनित नहीं होता कि मनुष्य और पशु द्वारा किये जा रहे आचरण में भी फ़र्क होना चाहिए। मनुष्य किस के प्रति आचरण कर रहा है, इस से पहले यह बात समझ लेना आवश्यक है कि आचरण करने वाला मनुष्य है – जो चेतनासम्पन्न मूल्यसृष्टा उत्तरदायी प्राणी है – इसलिए उस के आचरण में हर स्तर पर मानवत्व प्रतिबिम्बित होना अधिक संगत और सार्थक है। ऐसा नहीं कि वह मनुष्यों के बीच ही मनुष्य रहता है और जड़ प्रकृति के बीच जाने पर जड़ तथा पशुओं के बीच जाते ही पशु हो जाता है। ऐसी स्थिति में उस के लिए जहाँ यह जरूरी है कि मनुष्य और मनुष्येतर जीवन के साथ आचरण करते हुए वह इन दोनों के फ़र्क को समझे और तदनुकूल आचरण करे, वहीं यह भी उतना ही बल्कि शायद ज़्यादा आवश्यक है कि वह इस तथ्य को न भूले कि उसके आचरण में वह मूल्यबोध और चेतना प्रतिबिम्बित होनी चाहिए जो उसे मनुष्य बनाती है।

कुछ लोग समझ सकते हैं कि मैं जीवदया जैसी किसी धार्मिक या मानवतावादी भावना अथवा पारिस्थितिक सन्तुलन और पर्यावरण की शुद्धता के लिए चलाये जा रहे आन्दोलनों के समर्थन में इतना सब तर्क-जाल फैला रहा हूँ। इन दोनों को मैं गलत तो नहीं मानता पर मेरा आग्रह उन पर एक अलग दृष्टि से विचार करने का है। जब हम जीवदया की बात करते हैं तब अपने को एक दाता के भाव से गरिमामंडित कर लेते हैं -- उसमें यह भावना नहीं रहती कि हम पर जीवों या मनुष्येतर जीवन का कोई अधिकार है बल्कि यह भावना अधिक प्रबल हो जाती है कि हम उन से श्रेष्ठ हैं। तब यह तर्क कुछ भ्रामक हो जाता है क्योंकि इस में जीवन मात्र के प्रति कृतज्ञता का भाव नहीं रहता। मनुष्य जीवन की सर्वश्रेष्ठ अभिव्यक्ति है, अतः जीवन मात्र से जुड़ना, उसका संरक्षण और संवर्धन उसके मनुष्य होने की अनिवार्य नैतिक और भावात्मक शर्त है। जब मनुष्येतर जीवन के साथ मनुष्य का रिश्ता अस्तित्वगत स्तर पर अनुभव किता जाता है तभी वह वास्तविक अर्थों में मानवत्व का अर्जन करने वाला आचरण हो पाता है।

पर्यावरण और पारिस्थितिक सन्तुलन के लिए चलाये जा रहे आन्दोलनों के पीछे भी अभी तक केन्द्रीय दृष्टि मनुष्य के लिए उन की उपयोगिता है। यह महसूस किया जा रहा है कि अभी तक जिस तरह से प्रकृति का दोहन किया जाता रहा है, यदि उसी गति और पद्धति से प्रक्रिया जारी रही तो मानव जाति के लिए उसके परिणाम बड़े भयंकर होंगे। इस लिए वास्तविक चिन्ता यहाँ भी मनुष्य की ही है। मनुष्य की चिन्ता करना आवश्यक है लेकिन जीवन की चिन्ता करना भी उतना ही आवश्यक है क्योंकि मनुष्य जीवन का ही सर्वश्रेष्ठ और उत्तरदायी अभिव्यक्ति है। जिस तरह समाज में मनुष्य का केन्द्रीय महत्व है उसी तरह पूरे ब्रह्माण्ड में जीवन का केन्द्रीय महत्व है। अतः मनुष्येतर जीवन के प्रति मनुष्य का रवैया उपयोगितावादी हो ही नहीं सकता – उस के आचरण में जीवन मात्र के प्रति लगाव और कृतज्ञता के उसी बोध की झलक संगत और स्वाभाविक है जो उसके आचरण में दिखायी देनी चाहिए।

एक उदाहरण से बात सम्भवतः अधिक स्पष्ट हो सकेगी। आयुर्वेद के प्राचीन ग्रन्थों में कुछ ऐसे मन्त्रों का उल्लेख मिलता है जिन्हें वानस्पतिक औषधियों को पौधों से तोड़े के पूर्व पढ़ा जाता था। इन मन्त्रों में औषधि में देवता का वास मानते हुए इस बात के प्रति क्षमा मांगी जाती तथा कृतज्ञता ज्ञापित कि जाती थी कि मनुष्य अपने लिए उनका उपयोग कर रहा है। इसी प्रकार बहुत से भारतीय परिवारों – विशेषतया ग्रामीण परिवारों – में भोजन से पूर्व परोसे गए भोजन को प्रणाम करने या उसके लिए निश्चित मन्त्रों को पढ़ने की परम्परा देखी जा सकती है। सभी प्रकार के कार्यों के लिए जीवन के विभिन्न रूपों में देवता का वास मानते हुए उन के प्रति इसी प्रकार के कृतज्ञतापूर्ण मन्त्रों की रचना की गयी थी। मेरा यह तात्पर्य नहीं है कि आज हम भी प्रत्येक कार्य से पूर्व उन या उसी तरह के मन्त्रों का उच्चारण करें। वह तो एक रूढ़ि है और मन्त्रों मन्त्रों का उच्चारण करते हुए भी हमारा व्यवहार उसी प्रकार गैर-ज़िम्मेदार और अमानवीय हो सकता है जिस प्रकार बड़े-बड़े आदर्शों की बातें करने के बावजूद सामाजिक-आर्थिक जीवन में होता जा रहा है। असली बात यह है कि हम यह पहचानें कि वह देवता वास्तव में समग्र अस्तित्व ही है। उस के प्रति अस्तित्वगत लगाव, कृतज्ञता तथा उत्तरदायित्व की भावना और तदनुकूल आचरण में ही हमारे मानवत्व की सिद्धि और सार्थकता है।

मनुष्येतर : autre qu'humain (*manuSya* + *itar*)
ध्वान्यार्थ (m) : implication (*dhvani* + *arth* comme suffixe « but »)
बहुआयामी : adjectif formé sur *âyâm* (m) extension, dimension
आचरण (m) : comportement, conduite
संगत : assemblé, juste, approprié
अस्तित्वगत : adjectif formé sur *astitv* « existence »
तात्पर्य (m) : référence, objet, sens, vouloir dire
अर्जन (m) : acquisitions, bénéfice, profit

Traduction : à partir du dernier paragraphe de la page 1 (इसलिए यदि हम इस तर्क को मान लेते हैं). Rendez la traduction en plusieurs fois : pour la semaine du 14, le passage qu'on aura commencé ensemble et le paragraphe suivant, pour la semaine du 21 la fin.

Résumer en une ou deux phrases chacun des paragraphes précédent le passage à traduire (en français)

Résumer l'ensemble du texte en un bref paragraphe en montrant clairement quelle est l'idée générale et les enjeux.